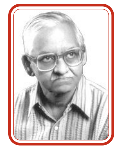

(1936-2009)

ध्यान पत्रिका

संस्थापक : डॉ० शम्भू नाथ

M.Sc., Ph.D.

वर्ष-30 | मार्च-2020 | अंक-3

जीवन के कुछ सत्य

नीति यह है कि जब हम, अन्तर्चेतना में जायें-
तो पूरी तरह भावातीत होकर वहां स्थित हो जायें,
और जब बाहरी क्रियाशीलता में जायें-
तो पूरी तरह उसमें निमग्न हो जायें।
यह जीवन को समग्र बनाने का सूत्र है-
पूर्ण रूप से भीतर और पूर्ण रूप से बाहर,
किसी पक्ष में अधूरा रहना उचित नहीं है।

-महर्षि श्री महेश योगी

प्रकाशक

ध्यान सत्संग सभा

पंजीकरण संख्या : 280/2013

हिसार (हरियाणा), मो. : 09416164702, 09416041346

Facebook : dhyansatsangsabha@gmail.com

Website : chetna-vigyan.in

किस दर जाऊँ मैं ?

✍ 'हंस' श्री अमरनाथ (09034334644)

तेरे दर को छोड़कर, किस दर जाऊँ मैं।
सुनता मेरी कौन है, किसे सुनाऊँ मैं॥

जब से याद भुलाई तेरी, लाखों कष्ट उठाये हैं।
क्या जानूं इस जीवन अन्दर, कितने पाप कमायें है॥
हूं शर्मिन्दा आपसे, क्या बतलाऊँ मैं ॥1॥

मेरे पाप कर्म ही तुझसे, प्रीति न करने देते हैं।
कभी जो चाहूँ मिलूं आप से, रोक मुझे ये लेते हैं।
कैसे स्वामी आपके, दर्शन पाऊँ मैं ॥2॥

है तू नाथ वरों का दाता, तुझ से सब वर पाते हैं।
ऋषि मुनि और योगी सारे, तेरे ही गुण गाते हैं।
छींटा दे दो ज्ञान का, होश में आऊँ मैं ॥3॥

जो बीती सो बीती लेकिन, बाकी उम्र संभालूं मैं।
प्रेम पाश में बंधा आपके, गीत प्रेम के गालूं मैं।
जीवन प्यारे 'देश' का सफल बनाऊँ मैं ॥4॥

तेरे दर को छोड़कर, किस दर जाऊँ मैं।
सुनता मेरी कौन है, किसे सुनाऊँ मैं॥

(1936-2009)

कर्म

✍ डॉ० शम्भूनाथ

कर्म की परिभाषा

कर्म तो वह है-जो बदलती हुई दुनियां में, बदलाव लाए। यदि कर्म नहीं होंगे-तो बदलती हुई दुनियां ही नहीं होगी-अर्थात् प्रलय हो जाएगी। 'भावातीत क्षेत्र', जो कि सारी उत्पत्तियों का स्रोत है-सूक्ष्मता की चरम सीमा है। सूक्ष्म का अस्तित्व, बिना स्थूल के और स्थूल का अस्तित्व-बिना सूक्ष्म के संभव ही नहीं है। ऐसा

कोई काल संभव नहीं–जब कर्म रुक जाय। इस सृष्टि का हर कण, हर समय–कर्म कर रहा है– इन्द्रिय जगत के अलग अलग देवताओं द्वारा कर्म, निर्जीव वस्तुओं द्वारा कर्म, वनस्पति और समस्त प्राणियों द्वारा कर्म।

वे कौन से कर्म हैं, जिनमें स्वयं कृष्ण–अर्थात् 'भावातीत क्षेत्र', हर क्षण व्यस्त है? प्राणियों में मनुष्य सर्वश्रेष्ठ है। उसके सर्वश्रेष्ठ होने का कारण यह है कि केवल मनुष्य ही, 'भावातीत क्षेत्र' से ब्रह्मतत्व को स्थूल क्षेत्र में ज्यादा से ज्यादा गति के साथ ला सकता है। जिस कर्म द्वारा, वह ऐसा करता है–वह कर्म ही, निष्काम कर्म है।

सारे प्राणी, हमेशा दो जगत में रहते हैं–(1) इन्द्रिय जगत और (2) इन्द्रियों से परे का जगत। ये दोनों जगत सृष्टि की बदलती हुई दुनियां के नाम से जाने जाते हैं और इनकी रचना स्वयं ब्रह्मा ने की। पूरी सृष्टि में केवल मात्र मनुष्य का मन, दोनों जगत में 'विचरण करने में सक्षम' है। जब मन, इन्द्रिय जगत में इन्द्रियों की मदद से विचरण करता है–तब मन की गति, इन्द्रिय जगत में–इन्द्रिय जगत के कर्मों का सूचक है और ऐसे सारे कर्मों को सकाम कर्म कहते हैं।

'मन का विचरण', अन्दर की दुनियां–अर्थात् इन्द्रियों से परे के जगत में, अन्दर के जगत में हुए कर्मों का सूचक है–ऐसे सारे कर्मों को निष्काम कर्म कहते हैं। ये कर्म, हमेशा बुद्धि से परे होते हैं। कृष्ण भगवान ने भ० गीता (2.11) द्वारा अर्जुन को सुझाव दिया कि उसे 'तीनों गुणों से परे' जाने का अभ्यास करना चाहिए और 'तीनों गुणों से परे जाने के बाद'–फिर 'क्रियाओं के क्षेत्र' में आना – बार बार ऐसा करने से मनुष्य 'योग में स्थित' होने लगता है–जो कि उपरोक्त कर्म के अभ्यास के आधार पर एक अवस्था का वर्णन है–इस अवस्था के कर्म, सुखी जीवन की कला है। उपरोक्त रास्ते पर चलने का फल, – अर्थात् योग में स्थित होकर कर्म करने से मनुष्य, स्वत: आसक्ति को त्यागने लगेगा और उसकी बुद्धि पर सिद्धि असिद्धि का प्रभाव नहीं पड़ेगा–अर्थात् वह समत्व भाव को प्राप्त हो जाएगा।

ऐसा क्यों और कैसे होगा? मनुष्य को अपनी बुद्धि की मदद से आसक्ति को त्यागने का प्रयास नहीं करना है। उनके रास्ते पर चलने वाले साधकों को संसार

की कोई वस्तु या नियम, न तो पकड़ने की जरूरत है और न ही, छोड़ने की जरूरत है। जो जिस अवस्था में, जैसा जीवन जी रहा है–वह वैसा ही जीता रहे–केवल अपने जीवन में 'तीनों गुणों से परे' होने का अभ्यास जोड़ दे। यह अभ्यास ही, उसे सारी आसक्तियों से मुक्त करने लगेगा और वह, अपने स्वभाव से ही समत्वभाव को प्राप्त हो जाएगा। श्रीकृष्ण के अनुसार, रास्ता तो केवल 'तीनों गुणों से परे' होने के अभ्यास के साथ साथ कर्म करने का है। इस रास्ते पर चलते चलते जीवन में बदलाव, अपने आप आयेगा। जो बदलाव आएगा, वह निश्चय ही कल्याणकारी होगा और इस बदलाव को किसी 'बौद्धिक स्तर के तर्क वितर्क' द्वारा समझकर जीवन के बदलाव को सही या गलत मानने की, आवश्यकता नहीं है।

गीता में ऊपर बताया हुआ कर्म, समस्त देवताओं की भी उन्नति करेगा। देवता, स्वयं अपनी उन्नति करने में सक्षम नहीं हैं। देवताओं की उन्नति तो, मनुष्य करेगा और जिस कर्म द्वारा करेगा–उस कर्म को भ० गीता (3.10) में एक यज्ञ कहा है। यह यज्ञ, ब्रह्म द्वारा रचित है और सृष्टि के रख रखाव के लिए ही, ब्रह्मा ने बनाया है। जो ध्यान सिखाया और अभ्यास कराया जाता है–वह, असलियत में 'ब्रह्म द्वारा रचित यज्ञ' ही है और यह यज्ञ, कैसे किया जाएगा–भ० गीता (2.45) में श्रीकृष्ण ने यही दर्शाया है। इस यज्ञ की खास बात यह है कि मनुष्य को इस यज्ञ में भाग तो अपने उत्थान के लिए लेना है–लेकिन इस यज्ञ द्वारा समस्त देवताअें का उत्थान, अपने आप हो जाता है।

मन हमेशा, दो जगत में रहता है। इस तरह से उसके जीवन में दो तरह के सुख होते हैं–ब्रह्म सुख (Bliss) और इन्द्रिय सुख (Pleasure)। ब्रह्मसुख, मन को पूर्ण सन्तुष्टि देने वाला है और केवल ब्रह्मसुख की कमी में 'इन्द्रिय सुख', दु:खदायी रूप रखने की क्षमता रखता है।

यह यज्ञ, चरम सीमा का 'ब्रह्म सुख' उभारने में सक्षम है।

जब साधक इस रास्ते को पकड़ता है और ब्रह्म सुख उभरता है–तब इन्द्रिय सुख अपनी दुखदायी क्षमता खोता है और हर तरह के 'इन्द्रिय सुख' का भोग करने में सक्षम होने लगता है।

इसी को भ० गीता (3.11) द्वारा श्री कृष्ण ने समझाया कि यदि मनुष्य, देवताओं की उन्नति करेगा-तो देवता भी मनुष्य की उन्नति करेंगे। इसके बाद ही (3.12) में कृष्ण भगवान ने कहा कि यदि मनुष्य, अपनी उन्नति करते हुए देवताओं की उन्नति करेगा-तो निश्चय ही देवतागण, मनुष्य के प्रिय भोगों को-बिना मांगें देंगे। बिना मांगे देने का अर्थ यह है कि 'इन्द्रिय सुख', अपनी दुखदायी क्षमता खोएगा और मन, सारे इन्द्रिय सुखों का भोग करने में सक्षम होगा। साधक की; और अधिक ऊँची अवस्था यह होगी-कि वह, और बड़ा ब्रह्म सुख पाने के कारण, इन्द्रिय सुख के भोग के लिए लालायित नहीं होगा।

सद्‌गुरु का क्या अर्थ है और इस पर इतना जोर क्यों दिया जाता है?

'गु का अर्थ है-अंधेरा और 'रु' का अर्थ है-उसे दूर करने वाला-अर्थात् गुरु तो वह हुआ जो अंधेरा दूर कर सके।

सत् का अर्थ है, ब्रह्मतत्व-अर्थात् अन्दर की दुनियां की रोशनी या जीवन की रोशनी। रोशनी की कमी को अंधेरा कहते हैं। इसलिए सद्‌गुरु, वह हुआ-जो मनुष्य के जीवन को सत् धारण कराकर, उसके जीवन के अंधेरे को दूर कर सके। तीनों गुणों से परे होकर, क्रिया करने का अभ्यास-हमारे मन में सद्‌गुरु को प्रकट करता है-अर्थात् ब्रह्मतत्व को हमारे मन में पिरोता है। ब्रह्मतत्व ही सद्‌गुरु है। जो भी मनुष्य अपने मन को लम्बे अभ्यास द्वारा, ब्रह्मतत्व पिरोकर उसे ब्रह्मतत्व से तर बतर (Saturate) कर दे-वह मनुष्य सद्‌गुरु है-श्रद्धेय रामकृष्ण परमहंस, शिरड़ी के साई बाबा, या कोई भी वह व्यक्ति-जो 'ब्राह्मी' या 'अद्वैत' चेतना को प्राप्त हो गया हो-ऐसा व्यक्ति, सद्‌गुरु केवल इसलिए कहलाता है-क्योंकि वह, किसी भी साधक को 'सत् से पूर्ण होने की कला' दर्शा सकता है और उसे किसी भी अवस्था तक ले जा सकता है-अर्थात् इस रास्ते पर चलने वाले की, हर शंका का समाधान करने में सक्षम है।

प्रश्न : आपकी बातें तो समझ में आती हैं-लेकिन भ० गीता (18.5) में लिखा है कि मनुष्य को यज्ञ, दान और तप को कभी नहीं छोड़ना चाहिए।

उत्तर : गीता (18.5) का अर्थ-केवल उसके बाद के श्लोक (18.6) पर निर्भर है-(18.6) का अर्थ है कि यज्ञ, दान, तप से सम्बन्धित क्रियाएँ-साधक को इन

क्रियाओं से मिलने वाले फल की आसक्ति, त्याग कर करना चाहिए।

साधक, जो भी साधना करे-उसे हम यज्ञ, दान, तप कहें या तप, सेवा, सुमिरन कहें-सारी साधनाएं तीन स्तर की होती हैं-शारीरिक, बौद्धिक और आत्मिक। यदि साधना केवल शारीरिक और बौद्धिक स्तर के कर्मों द्वारा होंगी, तो भ० गीता या दूसरे शास्त्रों द्वारा बताए गए फल प्राप्त नहीं होंगे।

प्रश्न : आत्मिक स्तर के कर्म क्या होते हैं यह मैं आज तक नहीं समझ पाया?

उत्तर : जिस समय मन, 'तीनों गुणों से परे'-अर्थात् इन्द्रिय जगत को छोड़कर, परा जगत में विचरण करता है-उस समय पराजगत में मन की गतिशीलता-इन्द्रियों से परे के जगत का कर्म है और यही निष्काम या आत्मिक कर्म है।

प्रश्न : इन कर्मों के माध्यम से मन की तपस्या, आत्मिक स्तर की सेवा और आत्मिक स्तर का भजन (दान)-किस प्रकार से होता है?

उत्तर : 'तीनों गुणों से परे' जाने का अभ्यास करने वाला व्यक्ति, ब्रह्म द्वारा रचित यज्ञ का पालन कर रहा है-जो कि समस्त देवताओं का उत्थान करने में सक्षम है और इस सृष्टि के समस्त अस्तित्व में सामंजस्य लाने में भी सक्षम है-इसी के आधार पर, इस कर्म के माध्यम से 'आध्यात्मिक शक्ति का भजन'-अर्थात् वितरण होता है, मन की तपस्या होती है-जो कि सर्वश्रेष्ठ तपस्या और भजन है। केवल इस स्तर के यज्ञ, दान और तप की कमी में ही छोटे स्तरों के यज्ञ, दान और तप की आवश्यकता पड़ती है और वे मनुष्य के इच्छित फल देने में सक्षम नहीं हैं।

प्रश्न : क्या वितरण द्वारा हम, अपनी आसक्तियों को त्याग सकते हैं?

उत्तर : विशेष तौर से जिस तरह के वितरण की बात आप, अपने मन में रखकर पूछ रहे हैं-वे स्थूल क्रियाओं द्वारा होते हैं, या सूक्ष्म क्रियाओं द्वारा?

जिन आसक्तियों को त्यागने के लिए, आपने प्रश्न पूछा है-शायद वे आसक्तियां, मनुष्य के मन की इच्छाएं या आदतें हैं-जो कि मन में हैं-अर्थात् सूक्ष्म हैं। स्थूल क्रियाएं, सूक्ष्म जगत को हमेशा के लिए खत्म नहीं कर सकतीं। इसी सिद्धान्त पर ईश्वर-जिसे हम, सबसे बड़ी ताकत मानते हैं, वह -सूक्ष्मतम है और इसीलिए वह

कभी किसी द्वारा खतम नहीं हो सकता–अर्थात् अमर है। जिस दिन स्थूल क्रियाओं या स्थूल जगत की शक्तियों द्वारा, सूक्ष्म जगत नियंत्रित होने लग जाएगा–उस दिन ईश्वर को जीतने वाला भी पैदा हो जाएगा।

प्रश्न : यदि किसी को वितरण से आसक्ति कम करते हुए देखा गया हो–तो आप क्या कहेंगे?

उत्तर : सूक्ष्म, स्थूल से ढक सकता है और इसी को लोग समझते हैं कि शायद सूक्ष्म, खतम हो गया–लेकिन यह एक 'जीवन सत्य' है कि 'स्थूल शक्ति', सूक्ष्म शक्ति को कभी खत्म नहीं कर सकती और केवल इसी सिद्धान्त के कारण, मात्र 'सूक्ष्मतम शक्ति' ही सर्वशक्तिशाली है। स्थूल वितरण द्वारा आसक्तियों को त्यागने का रास्ता, न पकड़ कर श्री कृष्ण पर विश्वास करें। उनके द्वारा भ० गीता (2.45) में दर्शाए रास्ते का अभ्यास करके, (2.48) की अवस्था को प्राप्त होकर, अपनी आसक्तियों को हमेशा के लिए त्यागने में विश्वास करें।

प्रश्न : कर्म क्या है, कर्म किसे करना है, कर्म क्यों और कैसे होता है?

उत्तर : यह सृष्टि दो भागों में बंटी है–(1) न बदलने वाली दुनियां (Absolute Field) (2) बदलने वाली दुनियां (Relative Field).

बदलने वाली दुनियां का विभाजन दो क्षेत्र में हो जाता है; (1) इन्द्रियों से अनुभव होने वाला जगत (2) इन्द्रियों से परे का जगत। बदलने वाले जगत में, बदलाव लाने वाला – कर्म है। कर्म की यह परिभाषा हमें बताती है–यदि कर्म नहीं है, तो बदलने वाले जगत की संभावना ही नहीं है। ब्रह्म की योजनाओं का संचालन, बिना कर्म के असंभव है। ब्रह्म द्वारा रचित यह सृष्टि–प्राणियों, वनस्पतियों, शक्तियों और निर्जीव वस्तुओं से भरी हुई है और इनमें से कोई भी नहीं है–जिनमें बदलते हुए समय के साथ साथ बदलाव न आवे। यह प्रमाणित करता है–कि हर क्षण, हर जगह, हर अस्तित्व द्वारा, कर्म हो रहा है। इस सृष्टि के हर अस्तित्व का आधार–'ब्रह्म तत्व' है। 'ब्रह्म तत्व', चौरासी लाख योनियों में से, जब किसी भी योनि में प्रवेश करता है–तब अलग अलग वस्तुओं का अस्तित्व, अलग अलग रूप और गुणों के साथ प्रकट हो जाता है। इसे प्रकट करने वाले–और बीतते समय के साथ साथ इसमें बदलाव लाने वाले को, उस वस्तु की चेतना कहते हैं–

इसीलिए कहा जाता है कि चेतना सर्वव्यापी है।

यह, प्रमाणित करता है कि चेतना में कर्म शक्ति है।

ब्रह्म द्वारा रचित सृष्टि में, चेतना चार रूप में है–इनमें मात्र प्राणी के पास कर्म करने के लिए, बुद्धि और कर्मेन्द्रियां भी हैं। अत: समय के साथ साथ बदलाव तो–सूर्य, चन्द्रमा, बादल, अग्नि, वायु, पृथ्वी, मौसम, गंगा, यमुना, ब्रह्मपुत्र–ऐसी नदियों में भी आता है, लेकिन इसके साथ साथ यह भी देखा जाता है–कि निर्जीव वस्तुएं और वनस्पतियों द्वारा, पैदा हुई वस्तुओं के गुणों में भी, बदलाव आता है।

अन्न तो लोग, हर युग में खाते रहे होंगे–लेकिन अलग अलग युगों में अन्न की पौष्टिकता अलग अलग पायी जाती रही है–ऐसा केवल हम अपने बाबा दादों की बातों को सुनकर समझ सकते हैं। लेकिन निर्जीव वस्तुओं और वनस्पतियों में, तत्काल कोई बहुत बड़ा बदलाव लाने की शक्ति नहीं मिलती–यद्यपि शक्तियों में ऐसा भी होता है–मौसम अचानक बदलते हैं। भूचाल अचानक आते हैं।

यदि हम, अपनी दृष्टि प्राणियों की ओर ले जायं–तो हम देखते हैं कि प्राणी में तत्काल बदलाव लाने की शक्ति, उसकी बुद्धि के विकास पर निर्भर करती है। समस्त प्राणियों में, अपनी बुद्धि को विकसित करने की क्षमता–सबसे ज्यादा, मनुष्य में है। अध्यात्म का इतिहास पढ़ने से यह भी पता लगता है कि ज्यों ज्यों सृष्टि, सतयुग से कलियुग की ओर अग्रसर होती है–मनुष्य की चेतना का विकास, इन्द्रिय जगत में अधिक होता है–और इन्द्रियों से परे जगत में, अधिकतर मनुष्यों की चेतना में पतन ही पाया गया है। जिस क्षेत्र में चेतना का विकास होता है–मात्र उसी क्षेत्र में बुद्धि का विकास होता है–इसीलिए कलियुग में हमारी बुद्धि का विकास, इन्द्रिय जगत की वस्तुओं में बदलाव लाने की ओर अधिक तेजी से होता है। लेकिन हर मनुष्य का 'कर्म ध्येय', अपने मन को सन्तुष्ट करना है।

मन को हम महसूस तो करते हैं, लेकिन महसूस करने के लिए–किसी इन्द्रिय की मदद नहीं लेते–यही इस बात का प्रमाण है कि मन, इन्द्रियों के क्षेत्र में–है ही नहीं। मन का अपना घर, 'इन्द्रियों से परे के क्षेत्र' में है। 'इन्द्रियों से परे के क्षेत्र' की चेतना और उससे सम्बन्धित बुद्धि का विकास, सबसे ज्यादा सतयुग में होता है–और ज्यों ज्यों समय, सतयुग से कलियुग की ओर अग्रसर होता है–मानव, जन

समूह की चेतना और बुद्धि का विकास-इन्द्रियों से परे के क्षेत्र में, केवल अवनति की ओर अग्रसर होता है।

घोर कलियुग में, लाखों में केवल एक, ऐसा मिल सकता है-जिसकी चेतना और सम्बन्धित बुद्धि का विकास, 'परा के क्षेत्र' में बड़े उच्च स्तर का हो और दिन-ब-दिन उन्नति की ओर ही, जा रहा हो। जन समूह की चेतना और सम्बन्धित बुद्धि का विकास, तो मात्र-इन्द्रिय जगत में होता है। प्राणियों में मात्र मनुष्य, अपनी चेतना और बुद्धि का विकास-अनन्त तक कर सकता है। इस सृष्टि के किसी और की चेतना में, यह शक्ति नहीं है-इसीलिए कहा गया है-

'बड़े भाग मानुष तन पावा।'

हम, दो जगत में रहते हैं-(1) इन्द्रिय जगत और (2) इन्द्रियों से परे के जगत में। दोनों जगत की चेतना का विकास, साथ साथ करना असम्भव है। जब 'आन्तरिक चेतना का विकास', एक विशेष अवस्था के बाद बढ़ता है-तब 'बाह्य जगत की चेतना' का, निश्चित रूप से पतन होता है। इसी तरह से एक विशेष अवस्था के बाद, जब इन्द्रिय जगत से सम्बन्धित विषयों की चेतना का विकास बढ़ता है-तब आन्तरिक चेतना का पतन होना, निश्चित हो जाता है। इसका कारण यह है कि 'इन्द्रिय से परे का जगत', सूक्ष्म जगत है और इन्द्रियों का जगत-स्थूल जगत है। सूक्ष्म, स्थूल का विलोम है ओर दो विलोम दिशाओं में, साथ साथ आगे बढ़ना असम्भव हो जाता है।

सारे इन्द्रिय सुख भोगों का आधार, 'आन्तरिक सुख' (Bliss) है। आन्तरिक सुख की एक विशेष अवस्था, इन्द्रिय सुख भोग के लिए आवश्यक है। इन्द्रिय सुख के भोग के लिए, इन्द्रिय सुख साधनों का होना भी आवश्यक है।

कलियुग में जन समूह, इन्द्रिय सुख के साधन बटोरने में इतना व्यस्त हो जाता है-उसके आन्तरिक जगत की चेतना का पतन, यहां तक हो जाता है-वह इस सत्य को अनुभव करने लायक ही नहीं रहता-कि हमें दो तरह के कर्मों की आवश्यकता है-

(1) सुख के साधन बटोरने सम्बन्धित कर्म और

(2) विशेष 'आन्तरिक सुख' को बनाए रखने से सम्बन्धित कर्म-जिसके बिना सुख का साधन होते हुए, 'सुख का भोग' असंभव हो जाएगा। ऐसे व्यक्ति, सुख के हर तरह के साधन बटोरने में सफल हो जाते हैं-लेकिन बढ़ती हुई आयु के साथ साथ सुख भोगने की शक्ति, खो देते हैं। ऐसे व्यक्तियों के कर्म की व्यस्तता, 'इन्द्रिय जगत की चेतना' और 'सम्बन्धित बुद्धि के विकास' में ज्यादा रहती है। इसीलिए वे, दूसरों की निगाहों में बहुधा उठने में सफल हो जाते हैं-लेकिन अपनी निगाह में गिर जाते हैं-अर्थात् अपने मन को सन्तुष्ट करने में सफल नहीं होते। डीप्रेशन (Depression) की बीमारी सबसे ज्यादा, कलियुग में पायी जाएगी-क्योंकि इसका सम्बन्ध हमारे 'आन्तरिक जगत की असंतुष्टियों' और भयभीत परिस्थितियों से होती है।

चेतना सर्वव्यापी है। चेतना के माध्यम से ही, कर्म होंगे, लेकिन यदि कर्म, केवल 'आन्तरिक चेतना के आधार' पर होगा-तो जीवन में हमेशा बदलाव, कैसे सम्भव होगा? इस समस्या का समाधान, ब्रह्म ने हमारे मन को दो क्षेत्र में रखकर किया। यह ब्रह्म की बहुत बड़ी योजना है। चेतना का विकास, 'मन के विचरण' से जुड़ा हुआ है। मन, एक ही समय में 'इन्द्रिय जगत के परे की गहराई की ओर विचरण' करते हुए-स्थूल जगत की ओर कैसे विचरण कर सकता है?

अलग अलग क्षेत्रों में मन के विचरण के आधार पर अलग अलग क्षेत्रों की चेतना और सम्बन्धित बुद्धि का विकास हो जाता है।

शास्त्रों में 'मन का विचरण', क्रियाओं से परे के जगत में होते समय-'आन्तरिक जगत की चेतना के विकास' के साथ, सम्बन्धित बुद्धि का जो विकास होता है-उसका एक दूसरा नाम रख दिया-जिसे विवेक (conscience) कहते हैं। यदि चेतना का विकास, मात्र विषयों की ओर अग्रसर हो रहा है और इसके साथ साथ 'आन्तरिक चेतना का पतन' हो रहा है-तब 'बाह्य जगत की चेतना के विकास से सम्बन्धित बुद्धि' को, केवल 'बुद्धि' कह दिया। इस तरह से मात्र विवेकशील बुद्धि में हम, अपनी निगाह में उठते हैं। दूसरों की निगाह में भी, उठ सकते हैं-लेकिन केवल वे, दूसरे-जिनके पास 'विवेकशील बुद्धि' हो। जिनके पास, विवेकशील बुद्धि नहीं है-वे केवल उनकी निगाह में उठ

जाते हैं, जिनके पास विवेकशील बुद्धि नहीं है। लेकिन वे, अपनी निगाह में अवश्य गिरते हैं, और विवेकशील व्यक्तियों की दृष्टि में भी गिरते हैं।

कर्म ध्येय तो केवल, अपने मन की सन्तुष्टि है। उठा हुआ केवल वह है-जो अपनी दृष्टि में उठ गया-इसके लिए 'आन्तरिक चेतना का विकास', अनिवार्य है। श्रीकृष्ण ने भ० गीता (17.2) में लिखा है-

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।

सात्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु॥

अर्थात् : जो अपने अन्दर शास्त्रीय संस्कार नहीं पैदा कर पाते, बल्कि केवल स्वभाव से उत्पन्न हुई श्रद्धा के आधार पर, अच्छे कर्म करते हैं-अर्थात् देवों की पूजा आदि करते हैं, वे सात्विकी, राजसी और तामसी-तीनों हो सकते हैं। यह श्लोक स्थूल कर्मों से सम्बन्धित देवी देवताओं के पूजन के सन्दर्भ में लिखा गया है। उपरोक्त श्लोक से स्पष्ट है कि फलदाता, स्थूल कर्म नहीं है-बल्कि 'स्थूल कर्म करने वाले की चेतना' है। यदि चेतना, आन्तरिक जगत की है-तब पूजा करने वाला सात्विक और शास्त्रीय संस्कारों वाला है, क्योंकि सारे शास्त्रों के संस्कारों से सम्बन्धित स्वभाव, 'ब्रह्म तत्व' से ही उत्पन्न होते हैं और हमारे अन्दर के सत् के आधार पर उभरते हैं।

हर मनुष्य के अन्दर, तीन गुण हैं-सत्, रज और तम। केवल वे व्यक्ति, जो 'आन्तरिक चेतना के विकास' के रास्ते पर होते हैं-उनके अन्दर का सत्; 'रज और तम' पर हावी होता है। जो व्यक्ति, केवल विषयों की चेतना उभारने में व्यस्त रहते हैं, जिससे कि 'सुख के साधन' पाने में कोई कमी न हो-उन लोगों की 'आन्तरिक चेतना'; रज से प्रभावित होती है-और जो व्यक्ति, 'सुख साधन से संबंधित कर्मों' में इतना लिप्त हो जाते हैं-कि 'सुख के भोगों की शक्ति' की ओर, उनका ध्यान ही नहीं जाता-ऐसे लोग, मूर्ख-अर्थात् तामसी होते हैं। समझते हैं कि 'सुख भोग की शक्ति', जिनके पास है-उन्हें स्वयं प्रकृति, ने प्रदान किया है-उनके कर्मों ने, नहीं प्रदान किया है। अत: उनका मन, ऐसे ही कर्मों की खोज की ओर नहीं मुड़ता-जो 'सुख के साधन' के साथ साथ, 'सुख की शक्ति' भी प्रदान कर सके। राजसी व्यक्ति, वे होते हैं-जो 'सुख के साधन से सम्बन्धित कर्मों' में उतने

ही व्यस्त रहते हैं-जितने कि 'सुख की शक्ति' को बनाए रखने में।

सात्विक व्यक्ति तो वे होते हैं, जो 'आन्तरिक चेतना के विकास' पर अपना विश्वास दृढ़ करके-केवल विकास की ओर, अग्रसर होते चले जाते हैं। ऐसे व्यक्तियों का विश्वास, 'सुख का साधन' पाने के लिए भी, स्थूल कर्मों पर नहीं होता-और वे, सुख का साधन पाने के लिए अपने 'विषयों के क्षेत्र' को बुद्धि का आधार, नहीं बनाते-ऐसे व्यक्तियों को ज्ञान हो जाता है-कि 'आन्तरिक चेतना के विकास के रास्ते' पर 'होने की शक्ति' पैदा होती है और यह 'होने की शक्ति', लीला शक्ति कहलाती है। इस 'लीला शक्ति के माध्यम' से वह, किसी भी इच्छा पूर्ति-किसी के माध्यम से करा सकती है-यही सत् की ताकत है। और ऐसी शक्ति, अपने अन्दर पैदा करने वालों को ही, 'सात्विक व्यक्ति' कहते हैं। इसीलिए ऊपर के श्लोक द्वारा श्री कृष्ण ने अर्जुन को समझाया है कि मात्र किसी के स्थूल कर्मों को देखकर, यह नहीं कहा जा सकता-कि वह सात्विक है, राजसिक है या तामसिक है।

अलग अलग पूजा के विषय में भ० गीता (4.7) में कहा गया है कि जो ईश्वर- अर्थात् 'होनी की शक्ति' पर विश्वास करते हैं, देवता उनके प्रिय भोगों को देंगे। ऐसे 'सात्विक पुरुष' ही देवताओं की पूजा करते हैं।

जो समय का इन्तजार नहीं कर सकते और तत्काल 'जीवन के भोग के साधन' जुटाने में तत्पर हैं-ऐसे पुरुष राजसी पुरुष कहलाते हैं। ये ज्यादातर यज्ञ और राक्षसों की पूजा करते हैं।

लेकिन समाज में कुछ ऐसे अज्ञानी पुरुष भी मिलते हैं-जिन्हें क्रिया प्रतिक्रिया का ज्ञान नहीं होता-वे अपने भोग विलास के लिए, यदि आवश्यक हुआ-तो दूसरों को दु:ख भी दे सकते हैं। ऐसे अज्ञानी, तामसी होते हैं और वे प्रेत और भूतगणों की पूजा भी करते हैं।

भ० गीता अध्याय 17 में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को बताया कि तप और दान, सात्विक, राजसिक और तामसिक-तीन तरह के हैं। अलग अलग तरह के खाने से सम्बन्धित कर्मों का भी ज्ञान दिया-लेकिन प्रश्न यह उठता है कि-

वह कौन सा कर्म है, जो मनुष्य को उसके दुखों से दूर कर सके? दु:ख का

अर्थ-'मन की असन्तुष्टि' है। इसीलिए कहा गया है-'मन चंगा तो कठौती में गंगा'-अर्थात् हमें उस कर्म की तलाश है-जो मन को हर हालत में चंगा रखे। भ० गीता (2.48) में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को सुखी जीवन की कला का ज्ञान दिया-

योगस्थ: कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥

हे धनंजय! आसक्ति को त्यागकर, सिद्धि और असिद्धि में समान बुद्धि वाला होकर 'योग में स्थित हुआ', कर्मों को कर। समत्व भाव ही, योग के नाम से जाना जाता है। वह रास्ता, जिसमें समय बीतने के साथ साथ व्यस्तता बढ़ती है-वह तो केवल तीन शब्दों में है-योगस्थ कुरु कर्माणि। यही 'सुखी जीवन की कला' है। जब मनुष्य इस रास्ते पर चलेगा-तो समय आने पर, 'आसक्ति को त्यागने की शक्ति' पैदा हो जाएगी। सिद्धि और असिद्धि का, उसकी बुद्धि पर प्रभाव न पड़े-ऐसी अवस्था को वह प्राप्त हो जाएगा और जब ऐसी अवस्था आ जाएगी-तब वह, 'समत्व भाव'-अर्थात् योग को प्राप्त हो जाएगा।

योग में स्थित होकर कर्म करना ही, सुखी जीवन की कला है।

सत्य तो ये है कि स्वयं समाज, सारे विषयों के क्षेत्र में भ० गीता पढ़ने वाला-हो या न हो, भ० गीता के उपरोक्त बताए हुए सिद्धान्त पर ही, कर्म कर रहा है।

योग का शाब्दिक अर्थ है-जुड़ना।

जब किसी विद्यार्थी को परीक्षा देनी होती है-तब जिस विषय की परीक्षा होती है, पहले उस विषय का 'गहन अध्ययन'-अर्थात् उस विषय के ज्ञान में स्थित होकर ही, परीक्षा देने जाना चाहिए। इसी तरह से यदि किसी खिलाड़ी को किसी खेल का कोई मैच खेलना हो-तो उसे उस खेल के नियमों के आधार पर, खूब अभ्यास (Practice) करके ही, मैच खेलने जाना चाहिए। नियमों के आधार पर अभ्यास उसे खेल की कला की शक्ति में स्थिर कर देगा और इस तरह से यदि वह 'खेल की शक्ति से जुड़ने के उपरान्त', मैच खेलेगा-तो वह अवश्य जीतेगा। इसी तरह से इन्द्रिय जगत के अनन्त विषयों में भ० गीता के 'योगस्थ: कुरु कर्माणि' की सत्यता को अनुभव किया जा सकता है। 'इन्द्रियों के विषयों के क्षेत्र' में तो इस सत्य का पालन हो ही रहा है-लेकिन भाषा में कुछ शब्दों का प्रयोग केवल कुछ

सन्दर्भ में ही होता है। भ० गीता में 'योग शब्द' का प्रयोग, मात्र 'आत्मसत्ता से जुड़ने' के सन्दर्भ में किया गया है, 'विषयों की शक्ति से जुड़ने' के लिए नहीं किया गया है।

लाखों में मुश्किल से एक व्यक्ति, ऐसा मिलेगा-जो 'आत्मसत्ता से जुड़कर', विषयों के क्षेत्र में कर्म करे। कर्म या क्रिया तो इन्द्रिय जगत में होते हैं-लेकिन 'कर्म फल की शक्ति', परा जगत में होती है। इसलिए फल पाने के लिए, 'पराजगत की शक्ति'-अर्थात् आत्मशक्ति चाहिए। जिस प्रकार से केवल अलग अलग वस्तुओं के सम्पर्क में आने पर ही, मन को उस वस्तु का सुख प्राप्त होता है-इसी प्रकार से मात्र आत्मसत्ता से सम्पर्क स्थापित होने पर-मन को आत्मसुख (Bliss) मिलता है। आत्मसुख प्राप्ति की साधना का थोड़ा सा अभ्यास करके इन्द्रिय जगत की क्रियाओं में व्यस्त होना-और दोबारा अभ्यास करके फिर व्यस्त होना-इस तरह का जीवन, मनुष्य को आत्मसुख के साथ क्रिया करने का जीवन देता है। अभ्यास के बाद क्रिया के समय, जो आत्मसुख रहता है-वह क्रिया का समय बढ़ने के साथ साथ कम होने लगता है। लेकिन वर्षों अभ्यास करने पर, क्रिया के समय-जो आत्मसुख रहता है, वह क्रिया में व्यस्तता बढ़ने से-कम होने की बजाय बढ़ने लगता है। ऐसी अवस्था में क्रिया स्वत: छूटती है और अभ्यास स्वत: होता है।

मन की वह अवस्था-जब क्रिया की व्यस्तता, आत्मसुख (Bliss) को कम करने की बजाय बढ़ाए-को 'योग में स्थित होना' कहते हैं। इस अवस्था में मनुष्य, हर कर्म और क्रिया के समय 'आत्मसुख' या 'फल देने वाली शक्ति' को अनुभव करते समय, कर्मों या क्रियाओं में व्यस्त है। इस तरह से क्रियाओं के क्षेत्र में फलदाता, उसके साथ है-यह प्रमाणित है कि वह किसी कल्पित ईश्वर की प्रार्थना के साथ क्रिया या कर्म नहीं कर रहा है। यही कारण है कि 'कर्म के क्षेत्र' में सफलता, 'योग में स्थित होने की साधना' बढ़ने के साथ साथ बढ़ती जाती है। धीरे धीरे उसका विश्वास, आत्मसुख की (Intensity) से जुड़ता है-कर्म की कला से नहीं। इसलिए उसका कर्म से लगाव, कम होता है और आत्मसुख से बढ़ता है। यदि किसी क्रिया में उसे सफलता नहीं मिलती, तो स्वाभाविक है कि उसके मन में क्रिया गलत या सही होने से सम्बन्धित भ्रम नहीं उत्पन्न होगा-बल्कि

'आत्म सुख' की (Intensity) में कमी, उसकी असफलता का कारण लगेगी। ऐसा मनुष्य जीवन की सफलताओं और असफलताओं-दोनों में समभाव रहेगा। ऐसे मनुष्यों का लगाव साधना से ज्यादा होता है-सफलता और असफलता से कम होता है। इसीलिए भ० गीता (2.48) में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को समझाया कि 'योग में स्थित' होकर और क्रिया के क्षेत्र की सफलताओं या असफलताओं से लगाव समाप्त होने और मन पर, इसके प्रभाव न पड़ने की अवस्था की प्राप्ति करते हुए क्रिया करना ही, 'सुखी जीवन सम्बन्धित कर्म कौशल' है।

भ० गीता (2.48) में जीवात्मा की उस अवस्था को दर्शाया है-जिस अवस्था में जीव द्वारा हुए कर्म, बिना किसी प्रयास के कर्म फल दे सके। यदि मन, कम से कम प्रयास द्वारा अपनी इच्छाओं की पूर्ति कर सके-तो वह अवश्य सन्तुष्टि की ओर अग्रसर होगा। अब प्रश्न उठता है कि वह कौन-सा कर्म है जिसके माध्यम से जीव, इस अवस्था को प्राप्त कर सकेगा। इस कर्म का ज्ञान भ० गीता (2.45) द्वारा दर्शाया जा चुका है -

त्रै गुण्य विषयावेदा निस्त्रं गुण्यो भवार्जुन।

निर्द्वन्द्वो नित्य सत्वस्थो नियागंक्षेत्र आत्मवान॥

अर्थात् 'वेद का सम्बन्ध तीन गुणों से है। इन तीनों गुणों से परे हो जाओ। हे अर्जुन! द्वैत से परे होकर, विशुद्ध चेतना में स्थित होकर-सब कुछ छोड़ कर स्वः को प्राप्त हो जाओ।' यहां पर तीन गुण का अर्थ-वायु मण्डल के सत्, रज और तम से है। ये तीनों गुण, बाह्य जगत के समस्त क्रियाओं के आधार हैं। इनमें से कोई भी यदि, 'शून्य की अवस्था' में आ जाए-तब समस्त क्रियाएं रुक जांएगी-ऐसा सम्भव ही नहीं है। क्रिया का अर्थ, केवल उस क्रिया से है-जो किसी-न-किसी 'अहं' से जुड़ा हुआ है और क्रियाओं में कुछ प्रयास का होना अनिवार्य है-इसीलिए उपरोक्त श्लोक में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को परे हो जाने को कहा और यह तभी सम्भव है, जब 'जागती हुई अवस्था' में मनुष्य-इस तरह से प्रयासहीन हो जाए, जैसे वह कई घण्टे की निद्रा के समय प्रयासहीन रहता है। ऐसी अवस्था में वह सही गलत, अच्छे बुरे, पाप पुण्य और द्वैत से परे हो जाता है। चेतना, सर्वव्यापी-अर्थात् वह तो द्वैत और अद्वैत-दोनों जगत में व्याप्त है। द्वैत

जगत, अनन्त विषयों के क्षेत्र में है। मन, जिस क्षेत्र में रहता है-उसी क्षेत्र की चेतना के साथ रहना पड़ता है और जैसे ही क्षेत्र बदलता है-मन की चेतना, बदल जाती है-वह दूसरे क्षेत्र की चेतना के साथ वहां जाता है।

उदाहरण :जब मन, गणित में व्यस्त है-उस समय मन की चेतना पर, केवल गणित से सम्बन्धित चेतना की छाप रहती है-लेकिन दूसरे विषयों के चेतना की छाप, चेत स्तर पर नहीं रहती-यद्यपि अर्द्धचेतना (Sub Concious) के स्तर पर रहती है। यहां मन, जब गणित छोड़कर किसी खेल में व्यस्त होता है-उस समय चेत स्तर पर पढ़ाई के किसी भी विषय की चेतना न रहकर, केवल उस खेल सम्बन्धित चेतना रहती है। उपरोक्त श्लोक अनुसार जब मन, तीनों गुणों से परे हो जायगा-या द्वैत से परे हो जाएगा-उस समय मन पर, किसी भी विषय की चेतना का प्रभाव नहीं पड़ेगा-इसके साथ साथ जब वह, विषयों में व्यस्त था-उस समय उसके मन पर विषयों के चेतना की जो छाप पड़ी थी-वह मिटने लगेगी। ज्यों ज्यों विषयों के चेतना की छाप मिटेगी, मन विशुद्ध चेतना को प्राप्त होगा। ज्यों ज्यों मन की चेतना में शुद्धता आएगी-त्यों त्यों पिछले विषयों के पड़े हुए छाप, और अधिक तेजी से मिटेगी।

सभी का मन, एक स्लेट की तरह होता है-और हमारे कर्म, स्लेट की बत्ती की तरह होते हैं-जो मन पर कर्म चिह्न, डाल देते हैं। जिस प्रकार भीगा कपड़ा स्लेट पर लिखे हुए चिह्नों को मिटा देता है-उसी प्रकार से हमारे कर्मों द्वारा मन पर डाले 'कर्म प्रभाव' को मिटाने में 'विशुद्ध चेतना', सक्षम है। ज्यों ज्यों 'तीनों गुणों से परे होने का अभ्यास' बढ़ता है-त्यों त्यों मन, 'विशुद्ध चेतना में स्थित' होने लगेगा। मन पर पड़े हुए कर्म प्रभाव ही, मन के स्थूल (Possessions) हैं। उपरोक्त श्लोक में इन्हीं Possessions को छोड़कर 'स्वः में स्थित' होने को कहा गया है-अर्थात् पिछले जन्म जन्मान्तर के पड़े हुए मन पर संचित कर्मों को उपरोक्त सिद्धान्तों द्वारा मिटाकर, मन को विशुद्ध चेतना में स्थित होना है।

उपरोक्त श्लोक द्वारा दर्शाया हुआ कर्म ही, निष्काम कर्म है। निष्काम कर्म की सबसे प्रसिद्ध व्याख्या है-कामना रहित कर्म। विषयों के क्षेत्र में निष्काम कर्म का यह अर्थ, मनुष्य को संशय से भर देता है। यदि किसी से कहा जाय कि तुम

पढ़ाई में मेहनत करते समय अच्छे नम्बर पाने की इच्छा न रक्खो, या खेल खेलते समय जीतने की इच्छा के बिना खेलो–तो कहने वाले और सुनने वाले–दोनों को अटपटा लगता है। सैद्धान्तिक स्तर पर यह ठीक हो, या गलत–लेकिन प्रयोगात्मक (Practical) स्तर पर यह कुछ असम्भव सा लगने लगता है। उपरोक्त भ० गीता (2.45 और 2.48) के आधार पर कर्म, दो तरह के हैं – कारण यह है कि इनका सम्बन्ध दो अलग अलग जगत से है– एक कर्म वह है–जो बिना कर्मेन्द्रियों के सम्भव नहीं है। ऐसे कर्म, 'इन्द्रिय जगत के कर्म' होते हैं और ये 'सकाम कर्म' कहलाते हैं।

काम के दो अर्थ बताए जाते हैं-उत्तेजना और कामना।

सारी कामनाएं, अपनी कामनाओं की उत्तेजनाओं से जुड़ी रहती हैं। उत्तेजनाएं सूक्ष्म स्तर की चीजें हैं। जिस प्रकार से हर क्रिया का आधार, 'क्रिया सम्बन्धित विचार' है–उसी प्रकार से हर स्थूल–अर्थात् 'इन्द्रिय जगत की कामनाओं का आधार', उस कामना से सम्बन्धित उत्तेजना है और इन सभी का आधार–विषयों की चेतना है। इसीलिए श्रीकृष्ण (2.48) ने 'योग में स्थित' होकर कर्म करने को कहा और इसके पहले ही, (2.45) में वे 'योग में स्थित करने वाले कर्म' को दर्शा चुके हैं। (2.45) द्वारा दर्शाया कर्म, मन पर पड़े हुए कर्म बन्धनों को मिटाने वाला कर्म है–यह 'कर्म बन्धन' ही अलग अलग विषयों से सम्बन्धित 'कामनाओं की उत्तेजनाओं का आधार' है–इसलिए इन उत्तेजनाओं से सम्बन्धित 'कर्म बन्धनों' से मन को मुक्त करने वाला कर्म, तो 'निष्काम कर्म' हुआ। यह कर्म, द्वैत जगत से परे का कर्म है और इसमें थोड़ा सा समय देकर (2.48) के आधार पर कर्मेन्द्रियों द्वारा किए गए कर्म के क्षेत्र में मन, व्यस्त रहे और फिर तीनों गुणों से परे हो जाए–इस तरह का जीवन, मनुष्य के कर्मेन्द्रियों के क्षेत्र में 'परा क्षेत्र की शक्ति'–अर्थात् 'परा की शक्ति' को इन्द्रिय जगत में प्रगट करने की कला है।

परा की शक्ति फलदाता है।

इसकी अनुपस्थिति में, सही कर्म भी 'मन चाहे फल' देने में सक्षम नहीं है–इस तरह से मनुष्य का जीवन, ऐसा होना चाहिए कि वह अपने 'जीवन की सफलताओं' और असफलताओं का कारण–'परा की शक्ति' को इन्द्रिय जगत में उपस्थित या

अनुपस्थित माने। इस शक्ति को बढ़ाने के कर्मों के साथ साथ विषयों के क्षेत्र में आए, या इन्द्रिय जगत की कामनाओं के क्षेत्र में आए। नित्य दोनों तरह के कर्मों को समय देना, अनिवार्य है। केवल विषयों की चेतना और सकाम कर्मों के माध्यम से 'मन की सन्तुष्टि की प्राप्ति' असम्भव है। हर प्राणी का जीवन, दो भागों में बंटा हुआ है–

(1) एक जिसे इन्द्रिय जगत कहते हैं और मन इसे इन्द्रियों द्वारा महसूस करता है।

(2) दूसरा 'इन्द्रियों से परे का जगत' कहलाता है। मन स्वयं तो इसको महसूस कर सकता है–लेकिन इसे महसूस करने के लिए, उसे इन्द्रियों की सहायता नहीं लेनी पड़ती–इसीलिए यह जगत, 'इन्द्रियों से परे का जगत' कहलाता है।

इन्द्रियों से परे भी एक जगत है, जिसे भावातीत क्षेत्र कहते हैं। यह क्षेत्र, भावों से परे–निर्गुण 'निराकार शक्ति का भण्डार' है और इस सृष्टि के हर अस्तित्व का आधार है। इस क्षेत्र से 'परा जगत की शक्ति', ऐसे ही मिल जाती है–जैसे इन्द्रिय जगत में पृथ्वी को 'सूर्य लोक की शक्ति' अपने आप मिल जाती है। पराजगत के जिस क्षेत्र को यह शक्ति मिल जाती है, वह 'बदलने वाली दुनियां का सूक्ष्म भाग' है। इस 'पराजगत की शक्ति' को मन, लेकर इन्द्रिय जगत में विचरण करे–यही 'सुखी जीवन की कला' है।

भ० गीता (2.45) द्वारा श्री कृष्ण ने अर्जुन से तीनों गुणों से परे हो जाने को कहा–और जब ऐसा होता है–तो मन, पराजगत में विचरण–अर्थात् कर्म करता है। 'परा जगत की शक्ति' लेकर, 'इन्द्रिय जगत में विचरण' करता है। जब 'इन्द्रिय जगत में विचरण' करता है–तब जिस शक्ति के साथ वह, इन्द्रिय जगत में प्रवेश करता है–वह शक्ति, धीरे धीरे कम होती है। यदि जीवन ऐसा हो–कि वह, ज्यादा से ज्यादा शक्ति लेकर–इन्द्रिय जगत में आए, तब 'इन्द्रिय जगत में विचरण' करते समय वह, 'परा की शक्ति के गुणों को अनुभव' करते हुए 'इन्द्रिय जगत में विचरण' करेगा। इस अवस्था को भ० गीता (2.48) में, 'योग में स्थित होकर कर्म करना' कहा है।

योग में स्थित होकर, कर्म करने के जीवन को क्या फल मिलेगा?

भ० गीता (2.48) के अनुसार 'योग में स्थित होकर कर्म करने' से मनुष्य स्वत:,

आसक्ति को त्यागने लगेगा और उसकी बुद्धि पर 'सिद्धि असिद्धि का प्रभाव' नहीं पड़ेगा–अर्थात् वह, समत्व भाव को प्राप्त हो जाएगा।

अब हम देखेंगे कि ऐसा क्यों होगा?

मन एक जड़ है। मन में जब, 'ब्रह्म तत्व' पिरोता है–तब मन में 'ब्रह्मतत्व के गुण' उभरते हैं और ये गुण–सत्, चित् और आनन्द–तीनों के नाम से जाने जाते हैं। आनन्द, उस सुख का नाम है–जिसे मन, 'ब्रह्म तत्व के सम्पर्क' में आने के कारण प्राप्त करता है और चित्, इस प्राप्ति को महसूस करने की शक्ति है।

एक साधारण मनुष्य नित्य दो अवस्थाओं में रहता है : निद्रा की अवस्था और जागृत अवस्था। निद्रा की अवस्था में मनुष्य, इन्द्रिय जगत को महसूस करने की शक्ति खो देता है–और 'जागृत अवस्था' में इन्द्रिय जगत को महसूस करने की शक्ति, फिर से प्राप्त कर लेता है।

इन्द्रिय जगत को महसूस करने की शक्ति, कैसे खो जाती है और फिर अपने आप कैसे वापस आ जाती है?

निद्रा की अवस्था भी दो भाग में बंट जाती है। गहरी निद्रा की अवस्था और स्वप्न की अवस्था। इन दोनों अवस्थाओं में, इन्द्रिय जगत को महसूस करने की शक्ति नहीं है–लेकिन स्वप्नावस्था में कुछ ऐसी महसूसियत होती है, जिन पर बुद्धि का कोई नियन्त्रण नहीं होता। इससे यह प्रमाणित होता है कि गहरी निद्रा और स्वप्न–दोनों अवस्थाओं में मन, बुद्धि या इन्द्रियों से परे रहता है–अर्थात् परा जगत में रहता है।

मन, पल भर के लिए भी, विचरण करना बन्द नहीं करता। पराजगत में विचरण करते करते वह, भावातीत हो जाता है और 'भावातीत जगत की शक्ति', मन में पिरो जाती है। ऐसा 6–7 घण्टे की निद्रा के समय भी, न मालूम कितनी बार होता है।

जैसे नदी में नहाते समय मनुष्य, कई बार पानी के अन्दर चला जाता है और कई बार पानी के बाहर हो जाता है–

बिल्कुल इसी प्रकार से मन घोर निद्रा के समय, कई बार भावातीत हो जाता है और

कई बार, 'परा जगत' में आता है। इस प्रक्रिया में ब्रह्मतत्व, मन में पिरोता है और ज्यों ज्यों ब्रह्मतत्व पिरोता है–मन पर पड़े 'कर्म प्रभावों' अर्थात् थकावट से मुक्त होता जाता है।

ब्रह्मतत्व की शक्ति, आन्तरिक जगत की रोशनी है और मन–आन्तरिक जगत की आंख है–इसलिए यह मन की रोशनी है। कर्म प्रभाव, आन्तरिक जगत की रोशनी को ऐसे ढक लेता है–जैसे इन्द्रिय जगत में बादल, सूर्य को ढक लेता है और मन, आन्तरिक जगत के गुणों–अर्थात् सत्–चित्–आनन्द या 'ब्रह्म सुख' (Bliss) और उसकी 'महसूसियत की शक्ति' से वंचित होने लगता है।

घोर निद्रा के समय, बार बार भावातीत होने से - ब्रह्म सुख और जाग (महसूसियत) बढ़ती है और मन, स्वप्नावस्था में आ जाता है। स्वप्नवस्था में विचरण, पराजगत से निकलते हुए कर्म प्रभावों को महसूस करने लगता है। ज्यों ज्यों ये कर्म प्रभाव, और अधिक निकलते हैं–हमारी महसूसियत, और अधिक बढ़ती है और हम, धीरे धीरे इन्द्रिय जगत को महसूस करने लगते है– अतः मन, जागृत अवस्था में आ जाता है।

प्राणों के पास रहने के लिए, दो जगत हैं–इन्द्रिय जगत और परा जगत।

इन दोनों जगत में रहने के लिए उसके पास, मात्र तीन अवस्थाएं है–गहरी निद्रा, स्वप्न और जागृत अवस्था।

निद्रा और स्वप्न के समय तो मन–न इन्द्रिय जगत को महसूस करता है और न ही परा जगत को महसूस करता है। जागृत अवस्था में वह, इन्द्रिय जगत को पूर्णतः महसूस करता है–लेकिन 'आन्तरिक जगत' को इतना कम महसूस करता है कि, 'परा जगत' तो महसूस होता ही नहीं।

यह कमी ही, हमारे जीवन की सबसे बड़ी कमी है। समाज में कुछ सन्त, 'आन्तरिक जगत' को महसूस करने में सक्षम हैं–वे जो सीख देते हैं कि, अपने अन्दर झांकों और तुम्हें सब कुछ मिल जाएगा। अतः हमारी कमी, केवल यह है कि हम, 'आन्तरिक जगत के खजाने' को महसूस करने की शक्ति से वंचित हैं।

कर्म का सबसे बड़ा ध्येय, अपने मन को सन्तुष्ट करना है।

समाज में लाखों में से एक व्यक्ति भी मिलना मुश्किल है-जिसे अपने जीवन में पूर्ण सन्तुष्टि दिखाई पड़ती हो। इसका कारण यह है कि मन के पास, दो जगत के सुख हैं-इन्द्रिय सुख और ब्रह्म सुख। इन्द्रिय सुख में मन को सन्तुष्ट करने की शक्ति नहीं है और 'ब्रह्म सुख को महसूस करने की शक्ति' भी मनुष्य के पास नहीं है।

'आन्तरिक सुख की कमी' में मनुष्य, बाह्य जगत के सुख से मन को सन्तुष्ट करने का प्रयास करने लगा-और इस प्रयास को ही, 'माया के पीछे भागना' कहते हैं। अत: ऐसा व्यक्ति ही मिलना मुश्किल है-जो माया के पीछे नहीं दौड़ रहा है। दौड़ना-अर्थात् हमारी व्यस्तता। भ० गीता (2.45) में जिस कर्म की व्याख्या की गई है-यही वह कर्म है, जिसके अभ्यास में व्यस्तता बढ़ने से धीरे धीरे हमारे 'आन्तरिक जगत की जाग' खुलेगी-यही 'निष्काम कर्म' है, जो 'सकाम कर्म' का विलोम है। सकाम का अर्थ है-कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों की मदद से, 'इन्द्रिय जगत में मन का विचरण', और निष्काम कर्म का अर्थ है-तीनों गुणों से परे होकर-परा जगत में मन कर्म करे। ऐसे कर्म के अभ्यास (Meditation) में धीरे धीरे समय बढ़ाए। ज्यों ज्यों दिन बीतेंगे-मन, ब्रह्मतत्व के और अधिक सम्पर्क में आएगा। धीरे धीरे मन में ब्रह्मसुख उभरेगा और काफी लम्बे अभ्यास के बाद, एक समय आएगा-जब उसे महसूस होगा कि 'इतना बड़ा सुख' तो इन्द्रिय जगत में, है ही नहीं। इस सुख का विशेष गुण यह है कि यह, मन को अपने अधीन कर लेता है और अपनी इच्छाओं की ओर नहीं जाने देता-या यह कहें कि यदि पिछले संचित कर्मों के आधार पर, कुछ इच्छाएं स्वत: मन में उठती भी हैं-तो भी उन इच्छाओं की पूर्ति के लिए वह, कर्मेन्द्रियों की मदद लेकर-कर्म करने की ओर झुकना धीरे धीरे कर्म होने लगता है। फलस्वरूप मन, 'परा जगत के विचरण' में ज्यादा व्यस्त रहने लगता है-इसी को 'ब्रह्म के क्षेत्र में विचरण' या 'ब्रह्मचर्य का पालन करना' कहते हैं।

एक साधारण मनुष्य, जो 'जागृत अवस्था में इन्द्रिय जगत' तो महसूस कर सकता है-लेकिन पराजगत को नहीं कर सकता-उसका मन, तीनों कालों में विचरण करता रहता है। अर्थात् कभी वह, अपनी पुरानी स्मृतियों में व्यस्त रहता है

और यदि ये स्मृतियां, दुखदायी हुई-तो दुखी रहने लगता है और यदि, सुखदायी हुई-तो उन्हें स्मरण करके खुश हो जाता है। कभी वर्तमान की समस्याओं में उलझकर, 'कर्म के क्षेत्र में व्यस्त' रहता है और कभी 'भविष्य की समस्याएं', उसे चिन्तित करती हैं। लेकिन जो 'निष्काम कर्म के अभ्यास' (Meditation) से 'ब्रह्मसुख में स्थित' रहने लगता है-वह धीरे धीरे, अपनी आसक्ति को त्यागने की ओर अग्रसर होने लगता है-उसकी बुद्धि, 'सिद्धि और असिद्धि के प्रभाव' से परे होने लगती है-अत: वह, 'समत्व भाव' को प्राप्त होने लगता है - यही भ० गीता (2.48) द्वारा श्रीकृष्ण ने अर्जुन को समझाया है-

जब मनुष्य, 'आन्तरिक जाग बढ़ाने की ओर' मुड़ता है-तब केवल थोड़े दिनों के अभ्यास में ही, उसे यह महसूस होने लगता है कि एकान्त में आंख बन्द करके, अंधेरे में बैठना-अर्थात् 'तीनों गुणों से परे होना', ज्यादा अच्छा लगता है। अत: वह लम्बे समय के बाद ही, तीनों गुणों से परे जाने की इच्छा-उसके इन्द्रिय जगत के कार्यों को छोड़कर, बैठने के लिए-उसे बाध्य करने लगती हैं। मन की इस बदलती हुई अवस्था को, कुछ सन्तों ने 'भावातीत चेतना' बताया है। 'भावातीत चेतना' का अर्थ यही हुआ कि भावों से परे के जगत में 'एक शक्ति का भण्डार' है। इस सत्य को, किसी किताब में पढ़ना या किसी सन्त के मुखारबिन्दु से सुनना, एक बात है-लेकिन उसे महसूस करना-दूसरी बात है। यह महसूसियत ही, आन्तरिक जगत का ज्ञान है - अत: ब्रह्मचर्य के पालन के बाद, 'आन्तरिक ज्ञान' या 'भावातीत क्षेत्र का ज्ञान' या 'ब्रह्मज्ञान की ओर'-विद्यार्थी, अग्रसर होने लगता है।

आन्तरिक जगत का ज्ञान ही सत् है।

इसीलिए सत्युग में समाज के अधिकतर लोग, अपने बच्चों को बाल्यावस्था से ही गुरुओं के पास-ब्रह्मचर्य पालन के लिए भेज देते थे। और कम से कम 25 वर्ष की अवस्था तक बच्चे, ऐसी विद्या में विशेष रुचि लेते थे-जिससे कि 'आन्तरिक जगत के ज्ञान के आधार पर' वे, अपने गृहस्थ जीवन को सुखी बना सकें।

जिस प्रकार से सूरज की किरणें, रोशनी और गर्मी एक साथ देती हैं-उसी प्रकार से 'आन्तरिक जगत का ज्ञान' और उसका आनन्द (Bliss)-इन दोनों को

महसूस करने की शक्ति, एक साथ बढ़ती है और लगभग 25 वर्ष की आयु तक आन्तरिक जगत की यह शक्ति-इतनी ज्यादा बढ़ जाती थी कि गृहस्थ जीवन में, किसी तरह की समस्या-किसी के मन में नहीं उठती थी।

गृहस्थ जीवन में, बार बार भावातीत होकर, क्रियाओं के क्षेत्र में आने से-कम से कम समय में, ज्यादा से ज्यादा ब्रह्मतत्व-मन में पिरो जाता है और अभ्यास (Meditation) करते करते, एक समय आता है जब, जागते, घूमते और दूसरे काम करते हुए भी अपनी क्रिकेट की क्षमता को नहीं भूल पाता। बिल्कुल इसी प्रकार से आन्तरिक ज्ञान का विद्यार्थी, इन्द्रिय जगत की किसी भी व्यस्तता के समय-ब्रह्मसुख को महसूसियत (Bliss) से दूर नहीं रह पाता और मन की इस अवस्था को, मन के गुणों के अन्धकार पर, ब्राह्मी (Cosmic) चेतना कहा गया है और एक बार इस अवस्था को प्राप्त हो जाने के पश्चात् मन, पूर्ण ज्ञान की ओर अग्रसर ही रहता है-अर्थात् ब्रह्मज्ञान का रास्ता कभी, छूट नहीं पाता।

'निष्काम कर्म' की यह सबसे बड़ी देन है।

इस अवस्था के बाद मन अधिकतर, वर्तमान सुख में ही लीन रहता है। ब्रह्मसुख (Bliss), उस पर इतना हावी हो जाता है-कि वह भूत (Past) की स्मृतियों तथा भविष्य (Future) की चिन्ताओं से मुक्त हो जाता है।

यज्ञ का ध्येय क्या है?

प्रारब्ध कर्मों द्वारा, जीवन का चलना-एक यज्ञ है।

जीवन में विश्राम, एक यज्ञ है।

स्वतन्त्र इच्छा से ध्यान को समय दें-

या निष्काम कर्म के लिए समय निकालें,

यह भी एक यज्ञ है।

यज्ञ तो केवल वो कर्म नहीं हैं-जो स्वतन्त्र इच्छा, 'बुद्धि के माध्यम से प्रारब्ध कर्मों को दबाकर' - अर्थात् मन में उठी हुई स्वाभाविक इच्छाओं से सम्बन्धित कर्मों में व्यस्त न होकर, बौद्धिक स्तर के कर्मों में व्यस्त हो जाते हैं।

इस तरह से हम आसानी से समझ सकते हैं -

(1) कि वे कौन से मनुष्य हैं-जिनका पूरा जीवन ही यज्ञ है।

(2) और वे कौन हैं-जिनका पूरा जीवन ही, यज्ञ से दूर होता चला जा रहा है?

(3) इन यज्ञों का ध्येय क्या है?

जैसा कि भ० गीता के अध्याय 3 में कहा गया है-कि स्वयं ब्रह्म ने सृष्टि की रचना के साथ साथ एक यज्ञ की रचना की, जिससे रचित सृष्टि का रख रखाव हो सके। इस सृष्टि के रख रखाव के लिए वायुमण्डल में 'ब्रह्मतत्व का पिरोना', अति आवश्यक है-जिससे कि पृथ्वी, जल, वायु, अनन्त नक्षत्रगण इत्यादि-देवताओं को सृष्टि चलाने हेतु-अपने अन्दर हुई कमी की पूर्ति होती रहे।

ब्रह्मतत्व का सागर या स्रोत, प्राणियों के अन्दर है। और इन प्राणियों के 'आन्तरिक जगत' से बाह्य जगत के वायुमण्डल की ओर ब्रह्मतत्व प्रवाहित होकर, बाहर के वायुमण्डल में पिरोता है-ऐसा समस्त प्राणियों द्वारा होता है।

प्राणियों में केवल मनुष्य, एक ऐसा प्राणी है-जो अपने जीवन को एक यज्ञ का रूप देकर, 'आन्तरिक जगत की शक्ति' के प्रवाह की गति, बाह्य जगत की ओर तीव्र कर सकता है। ऊपर बताए हुए यज्ञ का यही ध्येय है। और जिस मनुष्य द्वारा, जिस अनुपात में-आत्मशक्ति बाहर से वायुमण्डल में पिरोयी जाएगी-उसी अनुपात में देवतागण मनुष्य के प्रिय भोगों को, बिना मांगें देंगे।

आज के इस युग में अधिकतर लोगों का जीवन, यज्ञ से दूर होता चला जा रहा है-यही कारण है कि समाज में चिराग लेकर ढूंढ़ने पर भी, ऐसे व्यक्ति नहीं मिलते-जो रोग मुक्ति, चिन्ता मुक्ति और दुःख से परे की अवस्था की ओर अग्रसर हो रहे हों।

इनके विपरीत अग्रसर होने वाले व्यक्ति, चारों तरफ दिखाई पड़ते हैं। इस यज्ञ को ज्ञान, या ब्रह्मतत्व को आन्तरिक जगत से बाह्य जगत में प्रवाहित करने का ज्ञान-अधिकांश मनुष्यों के जीवन में खो चुका है। अधिकांश मनुष्यों का पतन तो, इस

स्तर तक हो चुका है कि वे, स्वप्न में भी नहीं सोचते–कि रोग रहित, परेशानी रहित और दुखरहित जीवन की कोई सम्भावना भी हो सकती है?

यह सोचना ही मुश्किल होता है कि इस जन्म के किसी कर्म द्वारा, वर्तमान जीवन को इस स्तर तक बदला जा सकता है। एक बीमार व्यक्ति, दूसरे बीमार व्यक्ति को देखकर सन्तोष कर लेता है कि जब सभी बीमार हैं–तो हम भी बीमार हैं। यदि सभी परेशान और दुखी हैं–तो हम भी परेशान और दुखी हैं।

बड़ी मुश्किल से कुछ लोग, समाज में मिलते हैं–जिनके दिल में इच्छाओं का जन्म होता है कि उन्हें खोज करनी है और ऐसे व्यक्तियों को उनके आन्तरिक जगत की 'ब्रह्म की शक्ति', कोई न कोई रास्ता अवश्य प्रदान करती है।

ईश्वर

✍ डॉ० बलदेव राज नाशा

समाज में हमेशा नास्तिक और आस्तिक व्यक्तियों की बात की जाती है। ईश्वर में अविश्वास करना, ज्यादा कठिन है और विश्वास करना, ज्यादा आसान है।

समाज, आस्तिक शब्द–उन व्यक्तियों के लिए प्रयोग करता है, जो मान्यता प्राप्त स्थूल कर्मों के माध्यम से पूजा पाठ में लगे रहते हैं–अर्थात् मान्यता प्राप्त कर्मों में अन्धविश्वास के आधार पर, ईश्वर को मानते हैं। समाज में दूसरे वर्ग के व्यक्ति भी हैं–जो केवल उन चीजों को मानते हैं–जिनकी अनुभूति संभव हो। इन्द्रिय जगत में न मालूम, कितनी ऐसी चीजें हैं–जिनकी उत्पत्ति, मानव द्वारा संभव नहीं है; जैसे–चांद, सूरज, नक्षत्रगण, अनन्त तारे, वायु, अग्नि, गुरुत्वाकर्षण शक्ति, ठंडक, गर्मी इत्यादि।

जिनकी उत्पत्ति, मानव द्वारा असम्भव है–उनकी उत्पत्ति, किसी शक्ति द्वारा तो है? स्वयं मनुष्य का जीवन ऐसा है–जिसमें, तरह तरह की घटनायें घटती रहती हैं और ये घटनाएं क्यों घटीं–इसका उत्तर किसी को नहीं मिलता। इस तरह की बातें मनुष्य को, इस बात का आभास कराती हैं कि बुद्धि से परे भी कोई शक्ति है। कोई ऐसा व्यक्ति हो सकता है–जो ऐसी शक्तियों पर भी विश्वास न करे? भले ही

ऐसे व्यक्ति मान्यता प्राप्त कर्मों के माध्यम से, कुछ पूजा पाठ में व्यस्त नहीं है–समाज नास्तिक कहे। मात्र ऐसे व्यक्ति, ईश्वर या प्रकृति की शक्ति, (जो ऐसे कार्य को भी कर सकती है–जो मनुष्य द्वारा संभव नहीं), की खोज की ओर भी अपने मन को ले जा सकते हैं। वे तरह तरह की साधनाओं की खोज करते हैं–जिनके माध्यम से हम, ईश्वर और ईश्वरीय शक्ति को जीवन में महसूस कर सकें। जो ईश्वर की खोज में मदद करता है–वह यह है कि सबसे बड़ी शक्ति की खोज करनी है। बड़ी का अर्थ है–जो जीवन के अनन्त पहलुओं में असीम हो। इस शक्ति के विषय में एक मान्यता समाज में यह भी रही है कि यह शक्ति सारे अस्तित्व का आधार है–बिना ईश्वरीय शक्ति के किसी भी चीज का अस्तित्व सम्भव नहीं है।

किसी भी वस्तु के अस्तित्व को अनुभव करने की शक्ति, तो मात्र मन में सम्भव है। जिसे मन, महसूस कर लेता है–उसे वह मान लेता है कि यह है–लेकिन जिसे वह महसूस नहीं कर पाता, उसके विषय में उसके मन में एक प्रश्न उठता है कि वह क्यों मान ले–कि ऐसा कुछ है? यह सत्य हमें इस ओर इशारा करता है कि सबसे बड़ी शक्ति को महसूस करने की शक्ति–तो मन में ही होगी?

यह सृष्टि दो भागों में बंटी है–इन्द्रिय जगत और इन्द्रिय से परे जगत। इन्द्रिय जगत की हर चीज को मन, इन्द्रियों के माध्यम से महसूस करता है–लेकिन कुछ अज्ञानी, इन्द्रियों को ही महसूस करने वाला मानने लगते हैं–जैसे हम, कुछ देखते हैं–तो बार बार कहते हैं कि हमारी आंखों ने देखा। इसी तरह हम कहते हैं कि हमारे कानों ने सुना – यद्यपि सत्य यही है कि मन ने आंख, कान या किसी दूसरी इन्द्रिय द्वारा अनुभव किया। अपने मन और बुद्धि को स्वयं हम तो महसूस करते हैं, लेकिन इसे कोई दूसरा महसूस नहीं कर सकता – कारण यही है कि महसूस करने वाला तो कभी इन्द्रिय जगत में, रहता ही नहीं।

मन, बुद्धि और इन्द्रियों से काम लेने वाली शक्ति–इन्द्रिय जगत में नहीं है– इन्द्रियों से परे जगत में है। इन्द्रिय जगत की बड़ी बड़ी शक्तियां भी दो भागों में विभाजित की जा सकती हैं–एक वे, जिनका अस्तित्व सदा बना रहता है–दूसरे वे, जिनकी उत्पत्ति बुद्धि के माध्यम से होती है–जैसे वायु, अग्नि, पृथ्वी, सूर्य और नक्षत्रगणों की शक्तियां – अपने अपने क्षेत्र में, अनादि और अनन्त हैं–लेकिन

विज्ञान के द्वारा, उत्पन्न की हुई शक्तियां–जैसे ऐटम बम, हाइड्रोजन बम और राकेट इत्यादि की शक्तियां–बुद्धि के जगत की बहुत बड़ी बड़ी शक्तियां मानी जाती हैं। यदि हम इन शक्तियों की ओर अपना ध्यान ले जायं–तो एक साधारण मनुष्य भी समझ लेता है कि ये शक्तियां, बुद्धि को इन्द्रिय जगत के सूक्ष्म पर्तों में ही मिली हैं। स्थूल जगत के पदार्थों के सबसे सूक्ष्म कण, अणु और परमाणु के नाम से जाने जाते हैं और इन सूक्ष्म पर्तों की शक्तियों के माध्यम से ही अणु और परमानु बम बने। इसी तरह से यदि हम, पूरी सृष्टि को स्थूल और सूक्ष्म पर्तों में विभाजित कर सकें–तो सबसे शक्तिशाली शक्ति, सबसे सूक्ष्म पर्त में ही मिलनी चाहिए।

यह सृष्टि सूक्ष्म और स्थूल परतों में बंटी हुई है, लेकिन इन जगतों को महसूस करने वाला मन है। मन, किसी भी अस्तित्व को मात्र विचारों के माध्यम से अनुभव कर सकता है। मन, इन्द्रिय जगत को जब महसूस करता है–तो कर्मेन्द्रियों की क्रियाशीलता भी महसूस होती है–यही क्रिया जगत की महसूसियत है।

लेकिन मन भावों के क्षेत्र में भी रहता है - यह प्रमाणित करता है कि भावों के क्षेत्र का भी अस्तित्व है। भावों का यह क्षेत्र, क्रियाओं के क्षेत्र से सूक्ष्म है। यह प्रमाणित करता है कि भावों के क्षेत्र की शक्ति, क्रियाओं के क्षेत्र की शक्ति से, नि:संदेह बड़ी होगी।

भावों का क्षेत्र, दो हिस्सों में विभाजित किया जा सकता है–

बुद्धि के अन्तर्गत उठते हुए भाव और बुद्धि से परे के भाव।

क्रियाओं के क्षेत्र का हर भाव, बुद्धि के अन्तर्गत ही होता है। भावों का क्षेत्र, बुद्धि के अन्तर्गत भी है और बुद्धि से परे भी है। इन दोनों जगत को महसूस करना, साधारण से साधारण मनुष्य के लिए सम्भव है। आज के समाज में परा जगत के विज्ञान की शिक्षा की कमी में मनुष्य को ये दोनों जगत, दो रूप में नहीं दिख रहे हैं। बुद्धि से परे के भाव, निश्चय ही बुद्धि के अन्तर्गत उठते हुए भावों से भी ज्यादा सूक्ष्म पर्त के अस्तित्व के प्रमाण हैं। इस पर्त में बुद्धि के अन्तर्गत उठते हुए विचारों की शक्ति और क्रियाओं के जगत की शक्ति से बड़ी शक्ति होनी चाहिए।

बौद्धिक स्तर का विश्लेषण हमें बताता है कि यदि, 'क्रियाओं का क्षेत्र' और

'भावों का क्षेत्र' अलग अलग हैं–तो भावों की उत्पत्ति का क्षेत्र और 'उत्पत्ति से परे के क्षेत्र' के अस्तित्व का होना भी आवश्यक है। जो साधक लेखक के साथ पिछले दस बारह वर्षों से साधना में व्यस्त हैं–वे अच्छी तरह जानते हैं कि भावों से परे का क्षेत्र ही 'भावातीत क्षेत्र' (Transcendental Field) है।

सारे अस्तित्वों की अनुभूतियों का आधार, भाव होता है–

इसीलिए 'भावातीत क्षेत्र' की अनुभूति का प्रश्न ही नहीं उठता।

जो कुछ भी अनुभव होगा, उसे अनुभव करने वाला–अपनी अनुभूति को व्यक्त करने का प्रयास भी, कभी न कभी करेगा। यदि यह अनुभूति सगुण निराकार है–तो मात्र गुणों के रूप में व्यक्त करेगा और यदि सगुण और साकार है–तो गुण और आकार के रूप में व्यक्त करेगा।

लेकिन जो भावों से परे है–वह तो अनुभव से भी परे है।

इसीलिए हमारे बड़े बड़े ऋषि मुनियों ने 'भावातीत क्षेत्र' का नामकरण भी किया और इसे 'ब्रह्म' बताया। यह प्रमाणित हो चुका है कि 'ब्रह्म', निर्गुण और निराकार है। सूक्ष्मतम होने के कारण, सर्वशक्तिशाली और सारे अस्तित्वों का आधार है।

इन्द्रिय जगत, निर्जीव वस्तुओं, वनस्पति, शक्तियों और प्राणियों से भरा है–लेकिन इस जगत में सारी शक्तियां सगुण हैं। 'भावातीत क्षेत्र' या 'ब्रह्म' तो निर्गुण निराकार है।

लेकिन मात्र, शक्ति ही कुछ देने योग्य होती है। अत: यह प्रमाणित हुआ कि ब्रह्म, निर्गुण निराकार शक्ति है–जो इन्द्रिय जगत के अनन्त जगतों और इन्द्रिय से परे के जगत का जन्मदाता है। इसीलिए यह 'परा से पराजगत' हुआ।

समाज का एक साधारण व्यक्ति, जितनी शक्तियों के विषय से सोच सकता है–वे सभी सगुण हैं, इसीलिए वह ईश्वर को भी गुणों के क्षेत्र में ही खोजता है। सूक्ष्मता और स्थूलता की दृष्टि से 'परा जगत' इन्द्रिय जगत की तुलना में 'परा से परा' के ज्यादा समीप है। समस्त शास्त्रों में ब्रह्म या 'ईश्वर की शक्ति' को प्रकाश रूपी बताया गया है–अर्थात् यह प्रकाश, निश्चय ही उस जगत में ज्यादा होगा–जो 'परा से परा' के समीप होगा। यही कारण है कि पराजगत,

'इन्द्रिय जगत' से ज्यादा शक्तिशाली है-सत्य तो यह है कि इन्द्रिय जगत के अनन्त जगतों का आधार है; और इन सारे जगतों को शक्ति देने वाला भी है।

मात्र इन्द्रिय जगत में जीवन के चार रूप हैं।

हम अच्छी तरह जानते हैं कि पराजगत में वनस्पति की सम्भावना नहीं; निर्जीव वस्तुओं की सम्भावना नहीं और शरीर के साथ, प्राणियों की भी संभावना नहीं। अत: इन्द्रिय जगत में जितनी तरह के जीवन सम्भव हैं-हर तरह के जीवन को शक्ति देने वाला जगत ही, पराजगत है। मात्र मनुष्य का जीवन, न मालूम कितने पहलुओं में बंटा हुआ है? सत्य तो यह है कि हमारी जितनी भी तरह की इच्छाओं की संभावनाएं हैं-उतनी तरह की शक्तियों की सम्भावनाएं भी हैं।

इस तरह से समझना कितना आसान है कि पराजगत, अनन्त तरह की शक्तियों का जगत है। अत: स्वाभाविक है कि इन अलग अलग तरह की सगुण शक्तियों का स्रोत-निर्गुण 'भावातीत क्षेत्र' है। पराजगत की ये शक्तियां, पराजगत के देवता हैं। देवता का अर्थ है-देने वाला। ये 'इन्द्रिय जगत' को हर तरह की शक्ति प्रदान करते हैं-लेकिन वे, अपनी शक्ति, 'निर्गुण निराकार ब्रह्म' से लेते हैं। देवता, अलग अलग पहलुओं की असीम शक्तियों को कहते हैं। ये पहलू हमारे मन की भावनाओं या इच्छाओं की उत्पत्ति हैं-लेकिन इच्छाओं का आधार, 'संचित कर्म की इच्छाओं' से भी सूक्ष्म है। पहले 'ब्रह्म की शक्ति', संचित कर्मों को मिलती है और तब, इन संचित कर्मों के माध्यम से इच्छा से संबंधित 'पराजगत के देवता' को मिल जाती है।

सन्त तुलसीदास की प्रसिद्ध चौपाई भी इसी सिद्धांत की ओर इशारा करती है-

जो इच्छा करिहहु मनमांही, हरि प्रसाद कछु दुर्लभ नाही।

साधक अच्छी तरह जानते है कि 'प्रयासहीनता के अभ्यास' के समय, मन में 'ब्रह्म की शक्ति', उसी तरह पिरो जाती है-जिस तरह से दिन के समय 'सूर्य की शक्ति', पृथ्वी में पिरो जाती है। मन में ज्यों ज्यों ब्रह्म की शक्ति पिरोती है-यह शक्ति, मन में विद्यमान संचित कर्मों और फिर इच्छाओं को मिल जाती है। ये इच्छाएं मन में बढ़ती हुई 'ब्रह्म की शक्ति' के साथ इच्छापूर्ति की ओर, उसी तरह से अग्रसर होती है-जैसे इन्द्रिय जगत में पृथ्वी में बोया हुआ बीज अंकुरित होकर, जड़ का रूप

धारण करके 'पृथ्वी से शक्ति' (Sap) लेकर पेड़ के तना, डाली, पत्तियों, कलियों, फूलों और फलों की ओर अग्रसर होती चली जाती है। हमें यह ज्ञात है कि वनस्पति जगत में पेड़ के किसी अंग की रचना, की नहीं जाती बल्कि- हो जाती है। जीवन में न मालूम कितनी घटनाएं, सृजित नहीं की जाती-हो जाती हैं।

इसी तरह से अध्यात्म की शक्ति के माध्यम से हमारी इच्छाओं की पूर्ति के लिए कर्मेन्द्रियों द्वारा, कर्म करना अनिवार्य नहीं है। कर्मेन्द्रियों द्वारा कर्म, मात्र मन में पिरोयी हुई 'ब्रह्म की शक्ति' की कमी के कारण करनी पड़ती है और यह कमी, मात्र मन में होती है-साधना द्वारा मन को 'ब्रह्म की शक्ति' से पूर्ण भी किया जा सकता है।

मात्र उस अवस्था में तुलसीदास द्वारा ऊपर उद्धृत चौपाई सत्य उतरती है।

अत: 'ब्रह्म की शक्ति', सबसे पहले मन में पिरोती है-अर्थात् ब्रह्म के जितने समीप मन रह सकता है, उतने समीप और कोई नहीं रह सकता। लेकिन हम यह भी जानते हैं कि मन तो सुख का भूखा है। इसलिए यदि मन को ब्रह्म की ओर खिंचना है-तो 'ब्रह्म की शक्ति' को कोई विशेष सुख, मन को प्रदान करना पड़ेगा। कुछ समय से 'प्रयासहीनता का अभ्यास' (Meditation) निरन्तर करने वाले कुछ साधकों को यह एहसास भी है कि अभ्यास का समय बीतने के साथ साथ मन में एक ऐसा सुख उभर रहा है-जिसके अनुभव के लिए मन, किसी इन्द्रिय की मदद नहीं लेता। यही 'ब्रह्मानन्द' (Bliss) की परिभाषा है।

निश्चय ही जो मन, 'ब्रह्म की शक्ति' से पूर्ण होगा-उसे इन्द्रिय सुख अपनी ओर खींचने की अवस्था में नहीं रहेगा। इसके विपरीत, ज्यों ज्यों मन में इस शक्ति की कमी होगी-मन, जीवन के सभी सुखों को-मात्र क्रियाओं के क्षेत्र में ढूंढ़ेगा। भ० गीता (9.22) का संकेत भी यही है कि जो भी 'ब्रह्मानन्द' (Bliss) में लीन होगा-उसे अपने 'योग क्षेम' के लिए, किसी प्रयास की आवश्यकता नहीं होगी। वे व्यक्ति, जो ईश्वर को 'गुणों की दुनिया' में ढूंढ़ रहे हैं-उन्हें ऐसे मन की तलाश है, जो मात्र 'ब्रह्म में लीन होकर', अपनी 'इच्छाओं की पूर्ति की शक्ति' रखता हो।

मन एक शक्ति नहीं है-बल्कि साधना द्वारा 'शक्तिवान' हो सकता है। मन,

शक्तिवान होकर क्रियाओं के क्षेत्र में जीवन व्यतीत करे-यह क्रियाओं के क्षेत्र में 'ब्रह्म की शक्ति' प्रकट करने की कला है। अत: हम साधना द्वारा अनुभव कर सकते हैं कि 'ईश्वरीय शक्ति' तो क्रिया शक्ति से परे है-अर्थात् होने की शक्ति के रूप में है और क्या होना है-यह 'शक्तिवान् मन की इच्छाओं' पर निर्भर करेगा।

प्रश्न उठता है कि इच्छाएं, कहां से आएंगी?

मन की आयु अनन्त साल की होती है। इसलिए जिस समय मन, 'शक्तिवान' होता है-उससे पहले के जन्मों में भी कुछ स्थूल और सूक्ष्म कर्म होते हैं-अत: मन के कुछ संचित कर्म रहते हैं। इस तरह से हर मन में, दो तरह की इच्छाओं की उत्पत्ति होती रहती है-कुछ इच्छाएं, संचित कर्मों की देन होती हैं-और कुछ इच्छाएं, इस जन्म के कर्मों की देन होती हैं। ज्यों ज्यों मन में शक्ति, बढ़ती है-संचित कर्मों द्वारा उत्पन्न इच्छाओं की निवृत्ति भी होने लगती है। और इस निवृत्ति के सहारे हम, अपने पिछले संचित कर्मों से मुक्ति पा सकते हैं।

हम पिछले संचित कर्मों से मुक्ति प्राप्त कर लें और इस जन्म की उठती हुई इच्छाओं की निवृत्ति, नित्य होती रहे-मात्र इस अवस्था के बाद ही कर्ममुक्ति सम्भव है। कर्ममुक्ति की अवस्था तक पहुंचने के पश्चात् मनुष्य, पूर्णरूप से मुक्त-अर्थात् स्वतन्त्र हो जाता है। अपनी स्वतन्त्र इच्छा के आधार पर दो संभावनाएं होती हैं - वह चाहे तो फिर जन्म ले सकता है। ऐसे व्यक्ति अपने दूसरे जन्म में पैदा होते ही, पूर्ण रूप से शक्तिशाली होंगे-समाज उन्हें ईश्वर या अवतार के रूप में ही जानेगा। दूसरी सम्भावना यह होगी कि वह दुबारा जन्म लेना ही न चाहे।

निष्कर्ष यह निकलता है कि यदि हमें, ईश्वर को जानना है-तो यह मात्र गुणों के माध्यम से ही सम्भव है और ये गुण-(1) होने की शक्ति से पूर्ण होना; (2) ब्रह्मानन्द में लीन रहना तथा (3) समस्त इच्छाओं की पूर्ति तत्काल करने की शक्ति इत्यादि हैं। ये तीनों तरह की शक्तियों का कुछ अंश, हर मनुष्य में होना अनिवार्य है-इसीलिए जीव को ईश्वर का अंश कहा जाता है। साधना द्वारा, ये गुण जीव में बढ़ने लगते हैं और साधारण मनुष्य, इसे साधना की प्रगति के रूप में पहचानता है-जो इस साधना में व्यस्त नहीं हैं, वे उपरोक्त गुणों का कुछ न कुछ अंश लेकर पैदा हुए होंगे और समय बीतने के साथ साथ उपरोक्त गुणों की कमी, उनमें होने लगेगी-यह जीवन के पतन का संकेत है। ऐसा किसी क्षेत्र के जनसमूह में भी सम्भव है और जनसमूह में उपरोक्त गुणों की शक्ति बढ़ती है-तब युग का उत्थान होता है और जब उपरोक्त गुणों से सम्बन्धित शक्ति, जन समूह में कम होती है-तब पूरे युग का पतन होता है। ❑

नोट : 1. ध्यान पत्रिका का वार्षिक शुल्क 50/- (पचास) रुपये मनी आर्डर अथवा कैश; अपने Address एवं Contact No. सहित इस पते पर भेजें :-

-श्री राकेश गर्ग, केशव लैस इम्पोरियम,
दुकान नं० 91, लाजपतराय (रेहड़ी) मार्केट, हिसार-125001
मोबाईल : 098967-89678

2. प्रत्येक रविवार को बुधला सन्त मन्दिर, नज़दीक बस स्टैण्ड, हिसार के जपकक्ष में प्रात: 11.00 बजे से 12.30 बजे एवं प्रतिदिन सायं 3 बजे से सामुहिक ध्यान प्रयोगात्मक (Practical) और उसी मन्दिर में प्रति रविवार पारिवारिक ध्यान सत्संग सायं 4 बजे से सायं 6 बजे तक होता है। आप सभी सपरिवार सादर आमन्त्रित हैं।

3. ध्यान (Meditation or Self Realization) सम्बन्धी अपने अनुभव, लेख, आलोचना (Comments), अनुभूतियां, प्रश्नोत्तर, शंका-समाधान इत्यादि इस पते पर भेज सकते हैं:-

-सुरेश कुमार गुप्ता
1618, अर्बन स्टेट-2, हिसार-125005
E-mail : sureshgupta1936@gmail.com

PRINTED MATTER